

दशलक्षण पर्व / दशलक्षण धर्म

जिस पर्व को श्वेताम्बर परम्परा में पर्युषण कहते हैं, उसे दिगम्बर परम्परा में दशलक्षण पर्व के नाम से जाना जाता है। दिगम्बर परम्परा में इस दशलक्षण पर्व का प्रारम्भ कब से हुआ, यह अभी शोध का विषय है, क्योंकि दिगम्बर परम्परा के प्राचीन ग्रन्थों में इस पर्व का कोई उल्लेख प्राप्त नहीं हुआ है। जैसा कि हमने पर्युषण सम्बन्धी लेख (श्रमण, अगस्त १९८२) में सङ्केत किया था कि दिगम्बर परम्परा के ग्रन्थों में इस पर्व का उल्लेख लगभग सतरहवीं शताब्दी के बाद से प्रारम्भ होता है। सतरहवीं शताब्दी के एक ग्रन्थ 'व्रत-तिथि-निर्णय' में इस पर्व का उल्लेख मिलता है। दिगम्बर परम्परा में यह पर्व दस दिनों में क्षमा आदि दस धर्मों की साधना के द्वारा मनाया जाता है। क्षमा आदि जिन दस धर्मों या सदगुणों का पालन इस पर्व में किया जाता है, उनके उल्लेख काफी प्राचीन हैं। जैन परम्परा और वैदिक परम्परा दोनों में ही इन दस धर्मों का उल्लेख मिलता है। दशलक्षण पर्व के दस दिन में प्रत्येक दिन क्रमशः एक-एक धर्म की विशेष रूप से साधना की जाती है। इस प्रकार दशलक्षण पर्व सदगुणों/धर्मों की साधना का पर्व है।

दशविध धर्म (सदगुण)

जैन आचार्यों ने दस प्रकार के धर्मों (सदगुणों) का वर्णन किया है, जो कि गृहस्थ और श्रमण दोनों के लिए समान रूप से आचरणीय हैं। आचारांगसूत्र, मूलाचार, बारसअणुवेक्खा, स्थानांगसूत्र, समवायांगसूत्र और तत्त्वार्थसूत्र के साथ-साथ परवर्ती अनेक ग्रन्थों में भी इन धर्मों का वर्णन विस्तार से उपलब्ध होता है।

यहाँ 'धर्म' शब्द का अर्थ सदगुण या नैतिक गुण ही अभिप्रेत है। सर्वप्रथम हमें आचारांगसूत्र में आठ सामान्य धर्मों का उल्लेख उपलब्ध होता है। उसमें कहा गया है कि जो धर्म में उत्थित अर्थात् तत्पर हैं उनको और जो धर्म में उत्थित नहीं हैं उनको भी निम्न बातों का उपदेश देना चाहिए—क्षांति, विरति (विरक्ति), उपशम, निवृत्ति, शौच (पवित्रता), आर्जव, मार्दव और लाघव।^१ इस प्रकार उसमें इनकी साधना गृहस्थ और श्रमण दोनों के लिए अपेक्षित है। स्थानांगसूत्र^२ और समवायांगसूत्र^३ में दस श्रमण-धर्मों के रूप में इन्हीं सदगुणों का उल्लेख हुआ है। यद्यपि स्थानांगसूत्र और समवायांगसूत्र की सूची आचारांगसूत्र से थोड़ी भिन्न है। उसमें दस धर्म हैं—क्षांति (क्षमा), मुक्ति, आर्जव, मार्दव, लाघव, सत्य, संयम, तप, त्याग और ब्रह्मचर्यवास। इस सूची में शौच का अभाव है। शान्ति, विरति, उपशम और निवृत्ति के स्थान पर नामान्तर से क्षांति, मुक्ति, संयम और त्याग का उल्लेख हुआ है। जबकि सत्य, त्याग और ब्रह्मचर्यवास इस सूची में नये हैं। बारसअणुवेक्खा एवं तत्त्वार्थसूत्र में भी श्रमणाचार के प्रसंग में ही दस धर्मों का उल्लेख हुआ है। तत्त्वार्थसूत्र की सूची में लाघव के स्थान पर आकिंचन्य का उल्लेख हुआ है; यद्यपि दोनों का अर्थ समान ही

है। दूसरे तत्त्वार्थसूत्र में मुक्ति के स्थान पर शौच का उल्लेख हुआ है। इन दोनों में अर्थ-भेद भी है। चाहे इन धर्मों (सदगुणों) का उल्लेख श्रमणाचार के प्रसंग में ही अधिक हुआ है, किन्तु आचारांगसूत्र (१/६/५) और पद्मनन्दीकृत पंचविंशतिका (६/५९) के अनुसार इनका पालन गृहस्थ और श्रमण दोनों के लिए अपेक्षित है। इनके क्रम और नामों को लेकर जैन आचार ग्रन्थों में थोड़ा-बहुत मतभेद पाया जाता है। फिर भी इनकी मूलभावना में कोई विशेष अन्तर नहीं है। प्रस्तुत विवेचन तत्त्वार्थसूत्र के आधार पर कर रहे हैं। तत्त्वार्थसूत्र में निम्न दस धर्मों का उल्लेख है^४ (१) क्षमा, (२) मार्दव, (३) आर्जव, (४) शौच, (५) सत्य, (६) संयम, (७) तप, (८) त्याग, (९) अकिंचनता और (१०) ब्रह्मचर्य।

१. क्षमा

क्षमा प्रथम धर्म है। दशवैकालिकसूत्र के अनुसार क्रोध प्रीति का विनाशक है।^५ क्रोध कषाय के उपशमन के लिए क्षमा-धर्म का विधान है। क्षमा के द्वारा ही क्रोध पर विजय प्राप्त की जा सकती है।^६ जैन परम्परा में अपराधी को क्षमा करना और स्वयं के अपराधों के लिए, जिसके प्रति अपराध किया गया है, उससे क्षमा-याचना करना साधक का परम कर्तव्य है। जैन साधक का प्रतिदिन यह उद्घोष होता है कि मैं सभी प्राणियों को क्षमा करता हूँ और सभी प्राणी मेरे अपराधों के लिए मुझे क्षमा करें। सभी प्राणियों से मेरी मित्रता है, किसी से मेरा वैर नहीं है।^७ महावीर का, श्रमण साधकों के लिए यह आदेश था कि साधुओं ! यदि तुम्हारे द्वारा किसी का अपराध हो गया है, तो सबसे पहले क्षमा माँगो। जब तक क्षमा-याचना न कर लो भोजन मत करो, स्वाध्याय मत करो, शौचादि कर्म भी मत करो, यहाँ तक कि अपने मुँह का थूक भी गले से नीचे मत उतारो। अपने प्रधान शिष्य गौतम की लाये हुए आहार को रखवा कर पहले आनन्द श्रावक से क्षमा-याचना के लिए भोजना इस बात का स्पष्ट प्रमाण है कि महावीर की दृष्टि में क्षमा-धर्म का कितना अधिक महत्त्व था।^८ जैन परम्परा के अनुसार प्रत्येक साधक को प्रातःकाल एवं सायंकाल, पक्षान्त में, चातुर्मास के अन्त में और संवत्सरी पर्व पर सभी प्राणियों से क्षमा-याचना करनी होती है। जैन समाज का वार्षिक पर्व 'क्षमावाणी' के नाम से भी प्रसिद्ध है। जैन आचार-दर्शन की मान्यता है कि यदि श्रमण साधक पक्षान्त तक अपने क्रोध को शान्त कर क्षमा-याचना नहीं कर लेता है तो उसका श्रमणत्व समाप्त हो जाता है। इसी प्रकार गृहस्थ उपासक यदि चार महीने से अधिक अपने हृदय में क्रोध के भाव बनाये रखता है और जिसके प्रति अपराध किया है, उससे क्षमा-याचना नहीं करता तो वह गृहस्थ-धर्म का अधिकारी नहीं रह पाता है। इतना ही नहीं, जो व्यक्ति एक वर्ष से अधिक तक अपने क्रोध की तीव्रता को बनाये रखता है और क्षमा-याचना नहीं करता वह सम्यक्-

श्रद्धा का अधिकारी भी नहीं होता है और इस प्रकार जैनत्व से भी च्युत हो जाता है।

बौद्ध परम्परा में क्षमा—बौद्ध परम्परा में भी क्षमा का महत्त्व निर्विवाद रूप से मान्य है। कहा गया है कि आर्य विनय के अनुसार इससे उन्नति होती है जो अपने अपराध को स्वीकार करता है और भविष्य में संयत रहता है।^{१०} संयुक्तनिकाय में कहा गया है कि क्षमा से बढ़कर अन्य कुछ नहीं है।^{१०} क्षमा ही परम तप है।^{११} आचार्य शान्तिरक्षित ने क्षान्ति- पारमिता (क्षमा-धर्म) का सविस्तार सजीव विवेचन किया है, वे लिखते हैं—द्वेष के समान पाप नहीं है और क्षमा के समान तप नहीं है, इसलिए विविध प्रकार के यत्नों से क्षमा-भावना करनी चाहिए।^{१२}

वैदिक परम्परा में क्षमा—वैदिक परम्परा में भी क्षमा का महत्त्व माना गया है। मनु ने दस धर्मों में क्षमा को धर्म माना है। गीता में क्षमा को दैवी-सम्पदा एवं भगवान् की ही एक वृत्ति कहा गया है।^{१३} महाभारत के उद्योग पर्व में क्षमा के सम्बन्ध में विस्तृत विवेचन है। उसमें कहा गया है कि क्षमा असमर्थ मनुष्यों का गुण है, तथा समर्थ मनुष्यों का भूषण है। हे राजन् ! ये दो प्रकार के पुरुष स्वर्ग के भी ऊपर स्थान पाते हैं—(१) शक्तिशाली होने पर भी क्षमा करने वाला और (२) निर्धन होने पर भी दान देने वाला। क्षमा, द्वेष को दूर करती है, इसलिए वह एक महत्त्वपूर्ण सद्गुण है।^{१४}

२. मार्दव

मार्दव का अर्थ विनीतता या कोमलता है। मान कषाय या अहंकार को उपशान्त करने के लिए मार्दव (विनय) धर्म के पालन का निर्देश है। विनय अहंकार का प्रतियोगी है व उससे अहंकार पर विजय प्राप्त की जाती है।^{१५} उत्तराध्ययनसूत्र में कहा है कि धर्म का मूल विनय है।^{१६} उत्तराध्ययनसूत्र एवं दशवैकालिकसूत्र में विनय का विस्तृत विवेचन है। जैन परम्परा में अविनय का कारण अभिमान कहा गया है। अभिमान आठ प्रकार के हैं—(१) जातिमद—जाति का अहंकार करना, जैसे मैं ब्राह्मण हूँ, मैं क्षत्रिय हूँ जाति के अहंकार के कारण उच्च जाति में निम्न जाति के लोगों के प्रति घृणा की वृत्ति उत्पन्न होती है और परिणामस्वरूप सामाजिक जीवन में एक प्रकार की दुर्भावना और विषमता उत्पन्न होती है। (२) कुलमद—परिवार की कुलीनता का अहंकार करना। कुलमद व्यक्ति को दो तरह से नीचे गिराता है। एक तो यह कि जब व्यक्ति में कुल का अभिमान जागृत होता है तो वह दूसरों को अपने से निम्न समझने लगता है और इस प्रकार सामाजिक जीवन में असमानता की वृत्ति को जन्म देता है। दूसरे कुल के अहंकार के कारण वह कठिन परिस्थितियों में भी श्रम करने से जी चुराता है, जैसे कि मैं राजकुल का हूँ, अतः अमुक निम्न श्रेणी का व्यवसाय या कार्य कैसे करूँ ? इस प्रकार झूठी प्रतिष्ठा के व्यामोह में अपने कर्तव्य से विमुख होता है व समाज पर भार बनकर रहता है। (३) बलमद—शारीरिक शक्ति का अहंकार करना। शक्ति का अहं व्यक्ति में भावावेश उत्पन्न करता है, और परिणामस्वरूप व्यक्ति का अभाव हो जाता है। राष्ट्रों

में जब यह शक्तिमद तीव्र होता है तो वे दूसरे राष्ट्रों पर आक्रमण के लिए बड़े ही आतुर हो जाते हैं और छोटी सी बात के लिए भी आक्रमण कर देते हैं। (४) तपमद—तपस्या का अहंकार करना। व्यक्ति में जब तप का अहंकार जागृत होता है तो वह साधना से गिर जाता है। जैन कथा-साहित्य में कुरुगुडुक केवली की कथा इस बात को बड़े ही सुन्दर रूप में चित्रित करती है कि तप का अहंकार करने वाले साधना के क्षेत्र में कितने पीछे रह जाते हैं। (५) रूपमद—शारीरिक सौन्दर्य का अहंकार करना। रूपमद व्यक्ति में अहंकार की वृत्ति जागृत कर दूसरे को अपने से निम्न समझने की भावना उत्पन्न करता है और इस प्रकार एक प्रकार की असमानता का बीज बोता है। पाश्चात्य राष्ट्रों में श्वेत और काली जातियों के बीच चलने वाले संघर्ष के मूल में रूप और जाति की अभिमान ही प्रमुख है। (६) ज्ञानमद—बुद्धि अथवा विद्या का अहंकार करना। ज्ञान का अहंकार जब व्यक्ति में आता है तो वह दूसरे लोगों को अपने से छोटा मानने लगता है। इस प्रकार एक ओर वह दूसरों के अनुभवों से लाभ उठाने से वंचित रहता है तो दूसरी ओर बुद्धि का अभिमान स्वयं उसके ज्ञान उपलब्धि के प्रयत्नों में बाधक बनता है। इस प्रकार उसके ज्ञान का विकास कुण्ठित हो जाता है। (७) ऐश्वर्यमद—धन-सम्पदा और प्रतिष्ठा का अहंकार करना। यह भी समाज में वर्ग-विद्वेष का कारण और व्यक्ति के अन्दर एक प्रकार की असमानता की वृत्ति को जन्म देता है। (८) सत्तामद—पद, अधिकार आदि का घमण्ड करना, जैसे—गृहस्थ वर्ग में राजा, सेनापति, मंत्री आदि के पद, श्रमण-संस्था में आचार्य, उपाध्याय, गणि आदि के पद। जैन परम्परा के अनुसार जब तक अहंभाव का विगलन होकर विनम्रता नहीं आती तब तक व्यक्ति नैतिक विकास की दशा में आगे नहीं बढ़ सकता। उत्तराध्ययनसूत्र में कहा है कि विनय के स्वरूप को जानकर नम्र बनाने वाले बुद्धिमान की लोक में प्रशंसा होती है, जिस प्रकार प्राणियों के लिए पृथ्वी आधारभूत है, उसी प्रकार वह भी सद्गुणों का आधार होता है।^{१७}

बौद्ध परम्परा में अहंकार की निन्दा—बौद्ध परम्परा में अहंकार को साधना की दृष्टि से अनुचित माना गया है। अंगुत्तरनिकाय में तीन मदों का विवेचन उपलब्ध है। भिक्षुओं! यौवनमद में, आरोग्यमद में, जीवनमद में मत्त अज्ञानी सामान्यजन शरीर से दुष्कर्म करता है, वाणी से दुष्कर्म करता है तथा मन से दुष्कर्म करता है। वह शरीर, वाणी तथा मन से दुष्कर्म करके शरीर के छूटने पर, मरने के अनन्तर अपाय, दुर्गति, पतन, एवं नरक को प्राप्त होता है। भिक्षुओं! आरोग्य-मद से मत्त भिक्षु शिक्षा का त्याग कर पतनोन्मुख होता है। भिक्षुओं! जीवनमद से मत्त भिक्षु शिक्षा का त्यागकर पतनोन्मुख होता है।^{१८} सुत्तनिपात में कहा है कि जो मनुष्य जाति, धन और गोत्र का गर्व करता है, वह उसकी अवनति का कारण है।^{१९} इस प्रकार बौद्ध धर्म में १. यौवन, २. आरोग्य, ३. जीवन, ४. जाति, ५. धन और ६. गोत्र इन छह मदों से बचने का निर्देश है।

गीता में अहंकारवृत्ति की निन्दा—गीता के अनुसार अहंकार को पतन का कारण माना गया है। जो यह अहंकार करता है कि मैं

अधिपति हूँ, मैं ऐश्वर्य का भोग करने वाला हूँ, मैं सिद्ध, बलवान् और सुखी हूँ, मैं बड़ा धनवान् और कुशलवान् हूँ, मेरे समान दूसरा कौन है—वह अज्ञान से विमोहित है।^{२०} जो धन और सम्मान के मद से युक्त है वह भगवान् की पूजा का ढोंग करता है।^{२१} महाभारत में कहा है कि जब व्यक्ति पर रूप और धन का मद सवार हो जाता है तो वह ऐसा मानने लगता है कि मैं बड़ा कुलीन हूँ, सिद्ध हूँ, साधारण मनुष्य नहीं हूँ। रूप, धन और कुल इन तीनों के अभिमान के कारण चित्त में प्रमाद भर जाता है, वह भोगों में आसक्त होकर बाप-दादों द्वारा संचित सम्पत्ति खो बैठता है।^{२२}

इस प्रकार जैन, बौद्ध और हिन्दू आचार दर्शन अभिमान का त्याग करना और विनम्रता को अंगीकार करना आवश्यक मानते हैं। जिस प्रकार नदी के मध्य रही हुई घास भयंकर प्रवाह में अपना अस्तित्व बनाये रखती है, जबकि बड़े-बड़े वृक्ष संघर्ष में धराशायी हो जाते हैं, उसी प्रकार जीवन-संघर्ष में विनीत व्यक्ति ही निरपद रूप से पार होते हैं।

३. आर्जव

निष्कपटता या सरलता आर्जव गुण है। इसके द्वारा माया (कपट-वृत्ति) कषाय पर विजय प्राप्त की जाती है। कुटिलवृत्ति (कपट) सद्भाव की विनाशक है, वह सामाजिक और वैयक्तिक दोनों जीवनों के लिए हानिकर है। व्यक्ति की दृष्टि से कपटवृत्ति एक प्रकार की आत्म-प्रवंचना है, स्वयं अपने आप को धोखा देने की प्रवृत्ति है। जबकि सामाजिक दृष्टि से कपटवृत्ति व्यवहार में शंका को जन्म देती है और पारस्परिक सद्भाव का नाश करती है।^{२३} यही शंका और कुशंका, भय और असद्भाव, सामाजिक जीवन में विवाद और संघर्ष के प्रमुख कारण बनते हैं। उत्तराध्ययनसूत्र के अनुसार आर्जव गुण के द्वारा ही व्यक्ति विश्वासपात्र बनता है।^{२४} जिसमें आर्जव गुण का अभाव है वह सामाजिक जीवन में विश्वासपात्र नहीं बन पाता। किसी भी प्रकार का दंभ (ढोंग) चाहे वह साधन से सम्बन्धित हो या जीव के अन्य व्यवहार से, अनुचित है। दशवैकालिकसूत्र के अनुसार जो तपस्वी न होकर तपस्वी होने का ढोंग करता है वह तप-चोर है, जो पंडित न होने पर भी वाक्पटुता के द्वारा पाण्डित्य का प्रदर्शन करता है वह वचन-चोर है, जो व्यक्ति इस प्रकार के ढोंग करता है, वह निम्न योनियों को प्राप्त करता है और संसार में भटकता रहता है, उसे यथार्थ ज्ञान की उपलब्धि नहीं होती।^{२५} इसलिए कहा गया है कि बुद्धिमान् व्यक्ति कपट के इन दोषों को जानकर निष्कपट आचरण करे।^{२६}

बौद्ध दृष्टिकोण—बुद्ध ने ऋजुता को कुशल धर्म कहा है। उनकी दृष्टि में माया या शठता (ठगी), दुर्गति, नरक का कारण है, जबकि ऋजुता (सरलता) सुख, सुगति, स्वर्ग और शैक्ष भिक्षु के लाभ का कारण है।^{२७}

महाभारत और गीता का दृष्टिकोण—महाभारत के अनुसार सरलता एक आवश्यक सद्गुण है।^{२८} गीता में आर्जव को दैवी-सम्पदा,^{२९} तप^{३०} और ब्राह्मण का स्वाभाविक गुण कहा गया है। आर्जव और अदम्भ सद्गुणों की गीताकार ने ज्ञान में गणना की है और इनके विरोधी

भावों को अज्ञान कहा है।^{३१}

४. शौच (पवित्रता)

शौच पवित्रता का सूचक है। सामान्यता शौच का अर्थ दैहिक पवित्रता से लगाया जाता है। किन्तु जैन परम्परा में शौच शब्द का प्रयोग मानसिक पवित्रता के अर्थ में ही हुआ है। समवायांगसूत्र और स्थानांगसूत्र की सूची में शौच स्थान पर 'लाघव' उल्लेख मिलता है। वस्तुतः साधन के लिए मानसिक कालुष्य या वासनारूपी मल की शुद्धि आवश्यक है। विषय-वासनाओं या कषायों की गन्दगी हमारे चित्त को कलुषित करती है। अतः उसकी शुद्धि ही शौच धर्म है। पं० सुखलालजी ने शौच का अर्थ निर्लोभता किया है^{३२}, किन्तु यह उचित नहीं लगता है, क्योंकि फिर इसका आकिञ्चन्य से भेद करना कठिन होगा। जैन परम्परा के अनुसार शौच का अर्थ मानसिक शुद्धि करना ही अधिक युक्तिसंगत है। उत्तराध्ययनसूत्र में कहा गया है कि अकलुष मनोभावों से युक्त धर्मरूपी सरोवर में स्नान कर मन विमल एवं विशुद्ध बन जाता है।^{३३}

गीता का दृष्टिकोण—गीता में शौच की गणना दैवी-सम्पदा, ब्रह्मचर्य एवं तप में की गई है^{३४}। आचार्य शंकर ने अपने गीताभाष्य में शौच का अर्थ प्रतिपक्ष भावना के द्वारा अन्तःकरण के रागादि मलों को दूर करना, भी किया है, जो कि जैन परम्परा के शौच के अर्थ के निकट है।^{३५}

५. सत्य

सत्य धर्म से तात्पर्य है—सत्यता को अपनाना। असत्य भाषण से किस प्रकार विरत होना, सत्य किस प्रकार बोलना, यह विवेचन व्रत-प्रकरण में किया गया है। धर्म के प्रसंग में 'सत्य' का कथन यह व्यक्त करता है कि साधक को अपने व्रतों एवं मर्यादाओं की प्रतिज्ञा के प्रति निष्ठावान् रहकर उनका उसी रूप में पालन करना सत्य धर्म है। इस प्रकार यहाँ यह कर्तव्यनिष्ठा को व्यक्त करता है, जैसे हरिश्चन्द्र के प्रसंग में कर्तव्यनिष्ठा को ही सत्य धर्म के रूप में माना गया है। साधक का अपने प्रति सत्य (ईमानदार) होना ही सत्य धर्म का पालन है। आचरण के सभी क्षेत्रों में पवित्रता ही सत्य धर्म है। कहा भी गया है कि मन, वचन और काय की एकरूपता सत्य है अर्थात् जैसा विचार वैसी ही वाणी और आचरण रखें, यही सत्यता है। वास्तव में यही नैतिक जीवन की पहचान भी है।

महावीर कहते हैं कि जो निष्ठापूर्वक सत्य की आज्ञा का पालन करता है, वह बन्धन से मुक्त हो जाता है। सत्य के सन्दर्भ में महावीर का दृष्टिकोण यही है कि व्यक्ति के जीवन में (अन्तः और बाह्य) एकरूपता होनी चाहिए।^{३६} अन्तरात्मा के प्रति निष्ठावान् होना ही सत्य धर्म है।

६. संयम

जैन दर्शन के अनुसार पूर्व संचित-कर्मों के क्षय के लिए तप

आवश्यक है और संयम से भावी कर्मों के आस्रव का निरोध होता है। संयम मनोवृत्तियों, कामनाओं और इन्द्रिय-व्यवहार का नियमन करता है। संयम का अर्थ दमन नहीं, वरन् उनको सम्यक् दिशा में योजित करना है। संयम एक ओर अकुशल, अशुभ एवं पाप जनक व्यवहारों से निवृत्ति है तो दूसरी ओर शुभ में प्रवृत्ति है। दशवैकालिकसूत्र में कहा है कि अहिंसा, संयम और तपयुक्त धर्म ही सर्वोच्च शुभ (मंगल) है।^{३७} जैन आचार्यों ने संयम के अनेक भेद बताये हैं। विस्तार भय से उनका विवेचन सम्भव नहीं है। पाँच आस्रव-स्थान, चार कषाय, पाँच इन्द्रियाँ एवं मन-वाणी और शरीर का संयम प्रमुख है।^{३८}

संयम और बौद्ध दृष्टिकोण—बुद्ध का कथन है कि प्राज्ञ एवं बुद्धिमान् भिक्षु के लिए सर्वप्रथम आवश्यक है—इन्द्रियों पर विजय, सन्तुष्टता तथा भिक्षु-अनुशासन में संयम से रहना।^{३९} शरीर, वाणी और मन का संयम करना उत्तम है। जो सर्वत्र संयम करता है, वह सब दुःखों से छूट जाता है।^{४०}

गीता में संयम—गीता में कहा कि श्रद्धावान्, तत्पर और संयतेन्द्रिय ही ज्ञान प्राप्त करता है।^{४१} जो संयमी है, उसकी प्रज्ञा प्रतिष्ठित है।^{४२} योगीजन संयम-रूपी अग्नि में इन्द्रियों का हवन करते हैं।^{४३}

७. तप

तप जैन साधना का प्राण है। जैन साधना में जो कुछ भी शाश्वत, उदात्त और महत्त्वपूर्ण तत्त्व है, वे सब तपोमय हैं। तीर्थंकर महावीर का तपोमय जीवन जैन परम्परा में तप का क्या महत्त्व है, इसको स्पष्ट करता है। महावीर के साधक जीवन के साढ़े बारह वर्षों में लगभग ग्यारह वर्ष निराहार व उपवासों में बीते हैं। महावीर का पूरा साधना-काल स्वाध्याय, आत्म-चिन्तन, ध्यान और कायोत्सर्ग की साधना से युक्त है। जैन परम्परा में आज भी ऐसे अनेक साधक हैं जिनके भोजन-दिनों का योग वर्ष में दो-तीन माह से अधिक नहीं होगा; शेष सारा समय वे उपवास व तपस्या में ही व्यतीत करते हैं। दशवैकालिकसूत्र में अहिंसा, संयम और तप धर्म को सर्वोत्कृष्ट मंगल कहा गया है।

जैन साधना का लक्ष्य शुद्ध आत्मतत्त्व की उपलब्धि है, आत्म-शुद्धिकरण है। लेकिन यह शुद्धिकरण क्या है? जैन दर्शन यह मानता है कि प्राणी कायिक, वाचिक एवं मानसिक क्रियाओं के माध्यम से कर्म-वर्गणाओं के पुद्गलों को अपनी ओर आकर्षित करता है और ये आकर्षित कर्म-वर्गणाओं के पुद्गल राग-द्वेष या कषायवृत्ति के कारण आत्मा से एकीभूत हो, उसकी शुद्धसत्ता, शक्ति एवं ज्ञानज्योति को आवृत्त कर देते हैं। यह जड़ एवं चेतन तत्त्व का संयोग ही विकृति है, विभाव है, बन्धन है।

अतः शुद्ध आत्मतत्त्व की उपलब्धि के लिए आत्मा के शुद्धस्वरूप को आवृत्त करने वाले कर्म-वर्गणाओं के पुद्गलों का पृथकीकरण आवश्यक है। पृथकीकरण की यह क्रिया निर्जरा कही जाती है, जो दो रूपों में सम्पन्न होती है। जब कर्म-वर्गणा के पुद्गल अपनी निश्चित समयावधि के पश्चात् अपना फल देकर स्वतः अलग हो जाते हैं, तो यह सविपाक निर्जरा कहलाती है। लेकिन यह साधना मार्ग नहीं है।

साधना तो सप्रयासता में है। जब प्रयासपूर्वक कर्म-पुद्गलों को आत्मा से अलग किया जाता है तो उसे अविपाक निर्जरा कहते हैं और जिस प्रक्रिया द्वारा यह अविपाक निर्जरा की जाती है, वही तप है।

तप का वर्गीकरण—जैन साधना में तप के बाह्य और आभ्यन्तर ऐसे दो भेद किये गये हैं। पुनः प्रत्येक के छः-छः भेद किये गये हैं। हम संक्षेप में नीचे इस वर्गीकरण को प्रस्तुत कर रहे हैं।

(अ) शारीरिक या बाह्य तप के भेद

१. अनशन—आहार-त्याग को अनशन कहा जाता है। यह भी दो प्रकार का होता है—एक निश्चित समयावधि के लिए किया हुआ आहार-त्याग, जो एक दिन से लगातार छः मास तक या उससे भी अधिक का हो सकता है। दूसरा जीवन-पर्यन्त के लिए किया हुआ आहार-त्याग। जीवन-पर्यन्त के लिए किये गये आहार-त्याग की अनिवार्य शर्त है कि उस अवधि में मृत्यु की आकांक्षा न करे।

२. अवमौदर्य—अवमौदर्य तप वह है, जिसमें आहार के लिए कुछ शर्तें निश्चित की जाती हैं। इसके पाँच प्रकार हैं—(१) जो आहार की मात्रा है उससे कुछ कम खाना, द्रव्य अवमौदर्य तप कहा जाता है। (२) भिक्षा के लिए कोई क्षेत्र निश्चित कर वहीं से मिली हुई भिक्षा लेना, क्षेत्र अवमौदर्य तप कहा जाता है। (३) किसी निश्चित समय पर आहार लेना, काल अवमौदर्य तप कहा जाता है। (४) भिक्षा प्राप्ति के लिए या आहार के लिए किसी स्थिति का अभिग्रह निश्चय कर लेना, भाव अवमौदर्य है। संक्षेप में अवमौदर्य तप वह है—जिसमें किसी विशेष स्थान पर, विशेष प्रकार से उपलब्ध आहार को अपनी आहार की मात्रा से कम मात्रा में ग्रहण किया जाता है।

३. रसपरित्याग—भोजन में दूध, दही, घृत, मिष्ठान आदि का या उनमें से किसी एक का ग्रहण नहीं करना, रस-परित्याग तप कहलाता है। रस-परित्याग एक प्रकार से स्वादजय है।

४. कायक्लेश—वीरासन, गोदुहासन आदि विभिन्न आसनों को करना, सर्दी या गर्मी को सहन करने का अभ्यास करना, कायक्लेश तप है।

५. भिक्षाचर्या—भिक्षा के विभिन्न नियमों का पालन करते हुए भिक्षा में उपलब्ध खाद्यपदार्थ पर जीवन-यापन करना, भिक्षाचर्या तप है।

६. विविक्तशय्यासन—अरण्य आदि एकान्त स्थानों में निवास करना, विविक्त शयनासन तप है।

उपरोक्त छः प्रकार शारीरिक तप-साधना के हैं। मानसिक या आभ्यन्तरिक दृष्टि से भी तप-साधना के निम्न छः भेद किये गये हैं—

(ब) मानसिक एवं आभ्यन्तर तप

१. प्रायश्चित्त—अशुभ आचरण के प्रति ग्लानि होना, उसका पश्चात्ताप करना, आलोचना करना, अपने अपराध को योग्य वरिष्ठ साधु या गुरु के समक्ष प्रकट करके उसके लिए योग्य दण्ड की याचना कर उनके द्वारा दिये हुए दण्ड को स्वीकार करना, प्रायश्चित्त-तप है।

२. **विनय**—वरिष्ठ साधकों एवं गुरुजनों का सम्मान करना, उन्हें प्रणाम, योग्य आसन प्रदान करना तथा उनकी आज्ञाओं का पालन करते हुए अनुशासित जीवन व्यतीत करना, विनय तप है।

३. **वैयावृत्य (सेवा)**—गुरुजन, वरिष्ठ, वृद्ध, रोगी एवं संघ (समाज) आदि की सेवा करना, वैयावृत्य तप है। वैयावृत्य एक प्रकार की सेवावृत्ति है।

४. **स्वाध्याय**—१. सद्ग्रन्थों का अध्ययन करना, २. उत्पन्न शङ्काओं के निरसन एवं नवीन ज्ञान की प्राप्ति के निमित्त विद्वत्जनों से प्रश्नोत्तर करना, तत्त्वचर्चा करना ३. ज्ञान की स्मृति को बनाये रखने के लिए उसका परावर्तन स्वाध्याय करना (दोहराना), ४. उस पर चिन्तन और मनन करना एवं, ५. धर्मोपदेश देना।

५. **ध्यान**—मन से अशुभ विचारों को हटाकर उसे शुभ विचारों में केन्द्रित करना तथा एकाग्र करना, ध्यान-तप है।

६. **कायोत्सर्ग**—शरीर से ममत्व हटाकर देहातीत आत्म-तत्त्व की अनुभूति करना, कायोत्सर्ग-तप है। कायोत्सर्ग में शरीर के जिन व्यापारों का निरोध सम्भव है, उनका एक सीमित समय के लिए निरोध भी किया जाता है।

इस प्रकार अनशन और अवमौदर्य से प्रारम्भ होकर कायोत्सर्ग तक की यह सारी साधना-प्रक्रिया तप कहलाती है।

८. त्याग

अप्राप्त भोगों की इच्छा नहीं करना और प्राप्त भोगों से विमुख होना, त्याग है। नैतिक जीवन में त्याग आवश्यक है। बिना त्याग के नैतिकता नहीं टिकती। अतएव साधु के लिए त्याग-धर्म का विधान किया गया है। त्याग से इन्द्रिय और मन के निरोध का अभ्यास किया जाता है। संयम के लिए त्याग आवश्यक है। सामान्य रूप से त्याग का अर्थ छोड़ना होता है। अतएव साधुता तभी सम्भव है जब सुख-साधना एवं गृह-परिवार का त्याग किया जाये। साधु जीवन में भी जो कुछ उपलब्ध है या नियमानुसार ग्राह्य है, उनमें से कुछ को नित्य छोड़ते रहना या त्याग करते रहना जरूरी है। गृहस्थ जीवन के लिए भी त्याग आवश्यक है। गृहस्थ को न केवल अपनी वासनाओं और भोगों की इच्छा का त्याग करना होता है, वरन् अपनी सम्पत्ति एवं परिग्रह से भी दान के रूप में त्याग करते रहना आवश्यक है। इसलिए त्याग गृहस्थ और श्रमण दोनों के लिए ही आवश्यक है। वस्तुतः लोकमंगल के लिए त्याग-धर्म का पालन आवश्यक है। न केवल जैन परम्परा में, वरन् बौद्ध और वैदिक-परम्पराओं में भी त्याग-भावना पर बल दिया गया है। बोधिचर्यावतार में आचार्य शान्तिरक्षित ने इस सम्बन्ध में काफी विस्तार से विवेचन किया है।

९. अकिंचनता

मूलाचार के अनुसार अकिंचनता का अर्थ परिग्रह का त्याग है। लोभ या आसक्ति-त्याग के भावनात्मक तथ्य को क्रियात्मक जीवन में उतारना आवश्यक है। अकिंचनता के द्वारा इसी अनासक्त जीवन का

बाह्यस्वरूप प्रकट किया जाता है। संग्रहवृत्ति से बचना ही अकिंचनता का प्रमुख उद्देश्य है। दिग्म्बर या जिनकल्पी मुनि की दृष्टि यही बताती है कि समग्र बाह्य परिग्रह का त्याग ही अकिंचनता की पूर्णता है। संत कबीरदास ने भी कहा है—

उदर समाता अन्न लहे, तनहि समाता चीर।

अधिकाहि संग्रह ना करे, ताको नाम फकीर।।

अकिंचनता और बुद्ध—बौद्ध ग्रन्थ चूलनिदेशपालि में कहा गया है कि अकिंचनता और आसक्तिरहित होने से बढ़कर कोई शरणदाता दीप नहीं है।^{४४} बुद्ध ने स्वयं अपने जीवन में अकिंचनता को स्वीकार किया था। उदायी भगवान् की प्रशंसा करते हुए कहता है कि भगवान् अल्पाहार करने वाले हैं और अल्पाहार के गुण बताते हैं। वे कैसे भी चीवरो से सन्तुष्ट रहते हैं और वैसे सन्तोष के गुण बताते हैं। जो भिक्षा मिलती है, उससे सन्तुष्ट रहते हैं और वैसे सन्तोष के गुण बताते हैं। निवास के लिए मिले हुए स्थान में सन्तुष्ट रहते हैं और वैसे सन्तोष के गुण बताते हैं। एकान्त में रहते हैं और एकान्त के गुण बताते हैं। इन पाँच कारणों से भगवान् के श्रावक भगवान् का मान रखते हैं और उनके आश्रय में रहते हैं।^{४५}

महाभारत में अकिंचनता—महाभारत में कहा गया है कि यदि तुम सब कुछ त्यागकर किसी वस्तु का संग्रह नहीं रखोगे तो सर्वत्र विचरते हुए सुख का ही अनुभव करोगे, क्योंकि जो अकिंचन होता है—जिसके पास कुछ नहीं रहता है, वह सुख से सोता और जागता है। संसार में अकिंचनता ही सुख है। वही हितकारक, कल्याणकारी और निरापद है। अकिंचन्य व्यक्ति को किसी भी प्रकार के शत्रु का खटका नहीं है। अकिंचनता को लाघव भी कहा जा सकता है। लाघव का अर्थ है—हलकापन। लोभ या आसक्ति आत्मा पर एक प्रकार का भार है। कामना या आसक्ति मन में तनाव उत्पन्न करती है। यह तनाव मन को बोझिल बनाता है। भूत और भविष्य की चिन्ताओं का भार मनुष्य व्यर्थ ही ढोया करता है। व्यक्ति जितने-जितने अंश में इनसे ऊपर उठकर अनासक्त बनता है, उतनी ही मात्रा में मानसिक तनाव से बचकर प्रमोद का अनुभव करता है। निर्लोभ आत्मा को कर्म-आवरण से हल्का बनाता है। मन और चेतना के तनाव को समाप्त करता है। इसीलिए उसको लाघव कहा जाता है।

भौतिक वस्तुओं की कामना ही नहीं, वरन् यश, कीर्ति, पूजा, सम्मान आदि की लालसा भी मनुष्य को अधःपतन की ओर ले जाती है। दशवैकालिकसूत्र के अनुसार जो पूजा, प्रतिष्ठा, मान और सम्मान की कामना करते हैं, वे अनेक छद्म-पापों का सृजन करते हैं।^{४६} कामना चाहे भौतिक वस्तुओं की हो या मान-सम्मान आदि अभौतिक तत्त्वों की, वह एक बोझ है जिससे मुक्त होना आवश्यक है। सूत्रों में लाघव के साथ ही साथ मुक्ति (मुत्ती) शब्द का प्रयोग भी हुआ है। सद्गुण के रूप में मुक्ति का अर्थ दुश्चिन्ताओं, कामनाओं और वासनाओं से मुक्त मनःस्थिति ही है। उपलक्षण से मुत्ती का अर्थ सन्तोष भी होता है। सन्तोष की वृत्ति आवश्यक सद्गुण है। उसके अभाव में जीवन की शान्ति चौपट हो जाती है। बौद्ध धर्म और गीता की दृष्टि में निर्लोभता

मनुष्य का आवश्यक सदगुण है। बुद्ध का कथन है कि 'सन्तोष ही परम धन है।'^{४४} गीता में कृष्ण कहते हैं— 'सन्तुष्ट व्यक्ति मेरा प्रिय है।'^{४५}

१०. ब्रह्मचर्य

ब्रह्मचर्य के सम्बन्ध में विस्तृत विवेचन महाव्रतों एवं अणुव्रतों के सन्दर्भ में किया गया है। श्रमण के लिए समस्त प्रकार के मैथुन का त्याग आवश्यक माना गया है। गृहस्थ-उपासक के लिए स्वपत्नी-सन्तोष में ही ब्रह्मचर्य की मर्यादा स्थापित की गयी है। विषयासक्ति चित्त को कलुषित करती है, मानसिक शान्ति भंग करती है, एक प्रकार के मानसिक तनाव को उत्पन्न करती है और शारीरिक दृष्टि से रोग का कारण बनती है। इसलिए यह माना गया कि अपनी-अपनी मर्यादा के अनुकूल गृहस्थ और श्रमण को ब्रह्मचर्य का पालन करना चाहिए।

बौद्ध परम्परा में ब्रह्मचर्य—बौद्ध परम्परा में भी ब्रह्मचर्य धर्म का महत्व स्पष्ट रूप से स्वीकार किया गया है। उसमें भी श्रमण साधक के लिए पूर्ण ब्रह्मचर्य और गृहस्थ साधक के लिए स्वपत्नी-सन्तोष की मर्यादाएँ स्थापित की गयी हैं।^{४६}

गीता में ब्रह्मचर्य—गीता में ब्रह्मचर्य को शारीरिक तप कहा गया है।^{४७} परमतत्त्व की उपलब्धि के लिए ब्रह्मचर्य को आवश्यक माना गया और यह बताया गया है कि जो ब्रह्मचर्य व्रत में स्थित होकर मेरी उपासना करता है वह शीघ्र ही निर्वाण प्राप्त कर लेता है।^{४८}

वैदिक परम्परा में दस धर्म (सद्गुण)

वैदिक परम्परा में भी थोड़े-बहुत अन्तर से इन सदगुणों का विवेचन पाया जाता है। हिन्दू धर्म में हमें दो प्रकार के धर्मों का विवेचन उपलब्ध होता है—(१) सामान्य धर्म और (२) विशेष धर्म। सामान्य धर्म वे हैं जिनका पालन सभी वर्ण एवं आश्रमों के लोगों को करना चाहिए, जबकि विशेष धर्म वे हैं जिनका पालन वर्ण विशेष या आश्रम विशेष के लोगों को करना होता है। सामान्य धर्म की चर्चा अति प्राचीन काल से होती आयी है। मनु ने अहिंसा, सत्य, अस्तेय, शौच और इन्द्रिय-निग्रह इन पाँच को सभी वर्णाश्रम वालों का धर्म बताया है।^{४९} प्रसंगान्तर से उन्होंने इन दस सामान्य धर्मों की भी चर्चा की है—धृति, क्षमा, दम, अस्तेय, शौच, इन्द्रियनिग्रह, धी, विद्या, सत्य और अक्रोध।^{५०} इस सूची में क्षमा, शौच, और सत्य ही ऐसे हैं जो जैन परम्परा के नामों से पूरी तरह मेल खाते हैं, शेष नाम भिन्न हैं। महाभारत के शान्तिपर्व में अक्रोध, सत्यवचन, संविभाग, क्षमा, प्रजनन, शौच,

संदर्भ :

१. आचाराङ्ग, संपा- मधुकर मुनि, प्रका०- श्री आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर, १९८०, १/६/५।
२. स्थानाङ्ग, संपा०- मधुकर मुनि प्रका०- श्री आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर, १९८१, १०/१४।
३. समवायाङ्ग, संपा०- मधुकर मुनि, प्रका०- श्री आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर, १९८२, १०/१।
४. तत्त्वार्थसूत्र, संपा०- जुगल किशोर मुख्तार, वीर सेवा मन्दिर,

अद्रोह, आर्जव एवं भृत्य-मरण इन नौ सदगुणों का विवेचन है। वामनपुराण में अहिंसा, सत्य, अस्तेय, दान, क्षान्ति, दम, शम, अकार्पण्य, शौच और तप इन दस सदगुणों का विवेचन है। विष्णु धर्मसूत्र में २४ गुणों का वर्णन है, जिनमें अधिकांश यही हैं। महाभारत के आदिपर्व में धर्म की निम्न दस पत्नियों का उल्लेख है—कीर्ति, लक्ष्मी, धृति, मेधा, पुष्टि, श्रद्धा, क्रिया, बुद्धि, लज्जा और मति।^{५१} इसी प्रकार श्रीमद्भागवत में भी धर्म की श्रद्धा, मैत्री, दया, शान्ति, तुष्टि, पुष्टि, क्रिया, उन्नति, बुद्धि, मेधा, तितिक्षा, हवि और मूर्ति इन तेरह पत्नियों का उल्लेख है।^{५२} वस्तुतः इन्हें गुण, धर्म की पत्नियों कहने का अर्थ इतना ही है कि इनके बिना धर्म अपूर्ण रहता है। इसी प्रकार श्रीमद्भागवत में धर्म के पुत्रों का भी उल्लेख है। धर्म के पुत्र हैं—शुभ, प्रसाद, अभय, सुख, मुह, स्मय, योग, दर्प, अर्थ, स्मरण, क्षेम और प्रश्रय।^{५३} वस्तुतः सदगुणों का एक परिवार है और जहाँ एक सदगुण भी पूर्णता के साथ प्रकट होता है वहाँ उससे सम्बन्धित दूसरे सदगुण भी प्रकट हो जाते हैं।

बौद्ध धर्म और दस सदगुण

जैसा कि हमने देखा जैन धर्म सम्मत क्षमा आदि दस धर्मों (सद्गुण) की अलग-अलग चर्चा उपलब्ध हो जाती है, किन्तु उसमें जिन दस धर्मों का उल्लेख हुआ है, इनसे भिन्न हैं। अंगुत्तरनिकाय में सम्यक्-दृष्टि, सम्यक्-संकल्प, सम्यक्-वाक्, सम्यक्-कर्मान्त, सम्यक्-आजीव, सम्यक्-व्यायाम, सम्यक्-स्मृति, सम्यक्-समाधि, सम्यक्-ध्यान और सम्यक्-विमुक्त ये दस धर्म बताये गये हैं।^{५४} वस्तुतः इसमें अष्टांग आर्य मार्ग में सम्यक्-ध्यान और सम्यक्-विमुक्ति ये दो चरण जोड़कर दस की संख्या पूरी की गई है। यद्यपि अशोक के शिलालेखों में जिन नौ धर्मों या सदगुणों की चर्चा की गई है, वे जैन परम्परा और हिन्दू परम्परा के काफी निकट आते हैं। वे गुण निम्न हैं—दया, उदारता, सत्य, शुद्धि (शौच), भद्रता, शान्ति, प्रसन्नता, साधुता और आत्मसंयम।^{५५}

इस प्रकार स्पष्ट होता है कि जैन, बौद्ध और हिन्दू तीनों धर्मों में वर्णित इन दशविध धर्मों में क्रम और नामों के किञ्चित् पारस्परिक मतभेद के अतिरिक्त मूलभूत सैद्धान्तिक-दृष्टि से कोई विशेष अन्तर नहीं स्पष्ट होता है। इन सदगुणों के पालन में प्रमुखता किसे दी जाये, इस सम्बन्ध में तीनों धर्मों के विचारकों में मतभेद हो सकता है, जो वस्तुतः देश, काल और परिस्थिति के अधीन होने के कारण स्वाभाविक भी है।

सहारनपुर, १९४४, ९/६।

५. दशवैकालिकसूत्र, संपा०- मधुकर मुनि प्रका०- श्री आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर, १९८५, ८/३८।
६. वही, ८/३९।
७. आवश्यकसूत्र-क्षमापणा पाठ, संपा०- मधुकर मुनि, प्रका०- श्री आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर, १९८५।
८. उपासकदशाङ्गसूत्र, संपा०- मधुकर मुनि, प्रका०- श्री आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर १९८०, १/८४।

१. अङ्गुत्तरनिकाय, अनु०- भदन्त आनन्द कौसल्यायन, प्रका०- महाबोधि सभा, कलकत्ता, १/१२/२।
१०. संयुक्तनिकाय, संपा०- जगदीश कश्यप एवं धर्मरक्षित, प्रका०- महाबोधि सभा, सारनाथ, वाराणसी, १९५४, १०/१२।
११. धम्मपद, अनु०- पं० राहुल सांकृत्यायन, प्रका०- बुद्धविहार, लखनऊ, १८४।
१२. बोधिचर्यावतार, संपा०- श्री परशुराम शर्मा, प्रका०- मिथिला विद्यापीठ, दरभंगा, १९६०, ६/२।
१३. गीता प्रेस, गोरखपुर, वि० सं० २०१८, १०/४, १६/३।
१४. महाभारत, उद्योगपर्व, गीता प्रेस, गोरखपुर, ३३/४९, ५८।
१५. दशवैकालिकसूत्र, संपा०- मधुकर मुनि, प्रका०- श्री आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर, १९८५, ८/३९।
१६. उत्तराध्ययनसूत्र, संपा०- रतनलाल दोशी, श्रमणोपासक जैन पुस्तकालय, सैलाना, वीर सं० २४७८, १/४५।
१७. वही, १/४५।
१८. अङ्गुत्तरनिकाय, अनु०- भदन्त आनन्द कौसल्यायन, प्रका०- महाबोधि सभा, कलकत्ता, ३/३९।
१९. सुत्तनिपात, अनु०- भिक्षु धर्मरत्न, महाबोधि सभा, बनारस, १९५०, १/६/१४।
२०. गीता, गीता प्रेस, गोरखपुर, वि० सं० २०१८, १६/१४-१५।
२१. वही, १६/१७।
२२. महाभारत, शांतिपर्व, संपा०- श्री रामनारायण दत्त पाण्डेय, प्रका०- गीता प्रेस, गोरखपुर, १९६०, १७६/१७/१८।
२३. दशवैकालिकसूत्र, संपा०- मधुकर मुनि, प्रका०- श्री आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर, १९८५, ८/३८।
२४. उत्तराध्ययनसूत्र, संपा०- रतनलाल दोशी, श्रमणोपासक जैन पुस्तकालय, सैलाना, वीर सं० २४७८, २९/४८।
२५. दशवैकालिकसूत्र, संपा०- मधुकर मुनि, प्रका०- श्री आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर, १९८५, ५/२/४६।
२६. वही, ५/२/४९।
२७. अङ्गुत्तरनिकाय, अनु०- भदन्त आनन्द कौसल्यायन, प्रका०- महाबोधि सभा, कलकत्ता, २/१५-१६।
२८. महाभारत, शांतिपर्व, संपा०- श्री राम नारायण दत्त पाण्डेय, प्रका०- गीता प्रेस, गोरखपुर, १९६०, १७५/३७।
२९. गीता, गीता प्रेस गोरखपुर, वि० सं० २०१८, १६/१।
३०. वही, १७/१४।
३१. वही, १३/७-११।
३२. तत्त्वार्थसूत्र (सुखलालजी की विवेचनासहित), प्रका०- पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, वाराणसी, पृ० २१०।
३३. उत्तराध्ययनसूत्र, संपा०- रतनलाल दोशी, श्रमणोपासक जैन पुस्तकालय, सैलाना, वीर सं० २४७८, १२/४६।
३४. गीता, गीता प्रेस, गोरखपुर वि० सं० २०१८, १६/३, १७/१४, १८/४२।
३५. गीता शाङ्करभाष्य, गीता प्रेस, गोरखपुर, १३/७।
३६. आचाराङ्गसूत्र, संपा०- मधुकर मुनि, प्रका०- श्री आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर, १९८०, १/३/३/१९९।
३७. दशवैकालिकसूत्र, संपा०- मधुकर मुनि, प्रकाशन समिति ब्यावर, १९८५, १/१।
३८. अभिधानराजेन्द्रकोष, खण्ड ७, श्री विजय राजेन्द्र सूरि, रतलाम, पृ० ८७।
३९. धम्मपद, अनु०- पं० राहुल सांकृत्यायन, प्रका०- बुद्धविहार, लखनऊ, ३७५।
४०. वही, ३६१।
४१. गीता, प्रका०- गीता प्रेस, गोरखपुर, वि० सं०, २०१८, २/६१।
४२. वही, ४२६।
४३. वही, ४/२९।
४४. चुल्लनिदेशपालि, संपा०- भिक्षु जगदीश, पालि पब्लिकेशनबोर्ड, बिहार गवर्नमेन्ट, १९५९, २/१०/६३।
४५. मज्झिमनिकाय, संपा०- एन० के० भागवत, प्रका०- बम्बई विश्वविद्यालय, १९६७, ७७ देखिए — भगवान् बुद्ध, पृ० २७८।
४६. दशवैकालिकसूत्र, संपा०- मधुकर मुनि, प्रका०- श्री आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर, १९८५, ५/२/३७।
४७. धम्मपद, अनु०- पं० राहुल सांकृत्यायन, प्रका०- बुद्धविहार, लखनऊ, २०४।
४८. गीता, प्रका०- गीता प्रेस, गोरखपुर, वि० सं०, २०१८, १२/१४, १९।
४९. सुत्तनिपात, अनु०- भिक्षुधर्मरत्न, प्रका०- महाबोधि सभा, सारनाथ, बनारस, १९५०, २६/२१।
५०. गीता, प्रका०- गीता प्रेस, गोरखपुर, वि० सं० २०१८, १७/१४।
५१. वही, ६/१४।
५२. मनुस्मृति, प्रका०- पुस्तक मन्दिर, मथुरा, वि० सं० २०१५, १०/६३।
५३. वही, ६/९२।
५४. महाभारत, आदिपर्व, प्रका०- गीता प्रेस, गोरखपुर, वि० सं० २०४५, ६६/१५।
५५. श्रीमद्भागवत, गीता प्रेस, गोरखपुर, वि० सं० २०४५, ४/४९।
५६. वही, ४/१/५०-५३।
५७. अङ्गुत्तर निकाय, अनु०- भदन्त आनन्द कौसल्यायन, प्रका०- महाबोधि सभा, कलकत्ता, १०।
५८. अशोक के अभिलेख, डा० राजबली पाण्डेय, प्रका०- वाराणसी ज्ञान मंडल लिमिटेड, सं० २०२२, स्तम्भ, २ एवं ७।